



## “भारत में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा एवं उसका अनुप्रयोग”

डॉ. मिथिलेश कुमार

Assistant Professor, Department of Political Science, Rajkiya Mahavidyalaya, Todarpur, Hardoi, U.P.

### ABSTRACT

न्याय किसी भी सभ्य समाज की एक महत्वपूर्ण और आवश्यक आवश्यकता है, जिसके अभाव में किसी भी सभ्य समाज के लिए सामान्य जीवन व्यतीत करना असम्भव है। मानव की उत्पत्ति के साथ ही न्याय की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी, क्योंकि न्याय केवल सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित करने वाली अवधारणा नहीं है बल्कि यह वाह्य दबावों से भी रक्षा करती है। अतः किसी भी देश की न्यायिक व्यवस्था का स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं निर्भीक होना अतिआवश्यक है ताकि किसी भी पीड़ित अभ्यर्थी को ससमय और त्वरित न्याय प्राप्त हो सके। भारतीय न्यायिक व्यवस्था इस सिद्धान्त पर कार्य करती रही है कि भले ही हजारों अपराधी दोषमुक्त हो जायें पर एक भी निर्दोश व्यक्ति को सजा न हो सके। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत की न्यायिक व्यवस्था न्याय की परम्परागत अवधारणा पर आधारित रही है, जहां न्यायालयों का कार्य है, उनके सामने जो विवाद प्रस्तुत हो उन विवादों का विद्यमान कानूनों के अनुसार निबटारा करना। इस धारणा के अनुसार पीड़ित पक्ष से यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होकर न्याय की याचना करे तथा न्यायालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह वैधानिक दायरे में रहते हुए अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए न्याय करे। चूंकि एक स्वतंत्र, निष्पक्ष, और प्रभावपूर्ण न्यायपालिका किसी भी लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए सम्मान एवं गौरव का विषय होता है। परन्तु जब जनता को विधायिका तथा कार्यपालिका से अधिक निराशा हो जाती है तब वह विवश होकर न्यायपालिका की ओर देखने लगती है। भारतीय न्यायपालिका को नागरिकों का अभिभावक तथा संविधान के संरक्षक के रूप में माना गया है। जब न्यायपालिका संवैधानिक परिधि के अंतर्गत ही जनता की पीड़ा और निराशा को दूर करने का प्रयास करती है तथा नागरिकों के अधिकारों को बनाए रखने और देश की संवैधानिक और कानूनी व्यवस्था के संरक्षण में अग्रणी भूमिका निभाती है तो इसे न्यायिक सक्रियता की संज्ञा दी जाती है।

**KEYWORDS:** न्याय, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, सम्प्रभुता, संविधान,

### INTRODUCTION

वर्तमान समय में लोकतांत्रिक भासन प्रणाली ने सार्वभौमिकता का स्वरूप प्राप्त कर लिया है क्योंकि विश्व के सभी राष्ट्र इसे अपनाना चाहते हैं। लोकतंत्र को एक भासन प्रणाली नहीं बल्कि एक जीवन भौली के रूप में स्वीकार किया जाता है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और मीडिया ये लोकतंत्र के चार महत्वपूर्ण स्तम्भ माने जाते हैं। इन चारों स्तम्भों की सक्रियता, सम्बद्धता और सजगता पर ही लोकतंत्र टिका हुआ है। इसमें से कोई भी स्तम्भ अगर अपने कर्तव्य का निर्वहन सही प्रकार से न करे तो लोकतंत्र खतरे में पड़ता हुआ दिखाई देता है। किसी भी लोकतांत्रिक राज्य को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान में राज्य के तीनों अंगों विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्यक्षेत्र एवं अधिकारों का स्पष्ट विभाजन किया जाये ताकि ये तीनों अंग अपने अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र रहते हुए कुशलतापूर्वक कार्य कर सकें। भारतीय संविधान निर्माताओं के समक्ष जहां एक तरफ ब्रिटिश सम्प्रभुता का आदर्श था और लोग इससे प्रभावित भी थे वहीं दूसरी तरफ यह चुनौती भी थी कि किस प्रकार एक संघात्मक भासन व्यवस्था वाले देश में जहां लिखित और कठोर संविधान है और उस संविधान में कई प्रकार के मौलिक अधिकार वहां के नागरिकों को प्रदान किये गये हैं उसमें किस प्रकार संतुलन स्थापित किया जाये? ऐसी स्थिति में संसद को सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्रदान कर देना संसद की सर्वोच्चता को स्थापित करने के समान होगा अतः संसद पर नियंत्रण रखने के लिए कानूनों की समीक्षा करने का अधिकार न्यायपालिका को प्रदान कर दिया गया।

भारतीय भासन व्यवस्था में अमेरिकी ‘शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त’ का पालन करते हुए सरकार को व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका जैसे तीन अंगों में विभाजित किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि इसमें कोई भी अंग सर्वोच्च नहीं है बल्कि सभी अपने-अपने क्षेत्र में अधिकार पूर्वक कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं और समान अधिकार रखते हैं चूंकि भारत में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है अतः सरकार के ये तीनों अंग शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का पालन करते हुए एक दूसरे को संतुलित करते रहते हैं जिससे कोई भी अंग किसी दूसरे अंग के अधिकार क्षेत्र में जाकर कार्य न कर सके। जहां एक तरफ भारतीय संविधान न्यायपालिका को विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों की तथा कार्यपालिका द्वारा किये

गये कार्यों की वैधानिकता की जाँच करने का अधिकार प्रदान करता है वहीं दूसरी तरफ महाभियोग के द्वारा न्यायपालिका के सदस्यों को हटाने की शक्ति व्यवस्थापिका को प्रदान करता है, साथ ही व्यवस्थापिका को संसद के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में न्याय को एक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है जिसके अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय आता है तथा राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त में सामाजिक आर्थिक न्याय उपलब्ध कराना राज्य का कर्तव्य माना गया है। हालांकि यहां यह उल्लेखनीय है कि राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त वाद योग्य नहीं हैं फिर भी न्यायपालिका ने जनहित वाद के माध्यम से ही इसे लागू कराने का कार्य किया। परन्तु बीते कुछ वर्षों में ऐसा हुआ है कि विभिन्न व्यक्तियों, सरकारों और राजनीतिक दलों द्वारा निहित स्वार्थ के कारण नागरिकों के हितों और गरिमा की रक्षा करने और हमें न्याय दिलाने के बजाय, अपने नीजी स्वार्थों के पोषक, सत्ता के सौदागर, जनता के शोषक और जनहित के भात्रु बन बैठे हैं। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका ने अनुभव किया कि अगर विधायिका और कार्यपालिका सामाजिक न्याय का वादा पुरा करने में असमर्थ या अनिच्छुक हैं तो न्याय का संरक्षक होने के नाते सर्वोच्च न्यायालय का यह कर्तव्य बनता है कि इन दोनों को इनके उत्तरदायित्व का वहन करने हेतु प्रेरित करें। इसी कारण से न्यायिक सक्रियता जैसी अवधारणा की शुरुआत हुई।

**ऐतिहासिक एवं संवैधानिक पृष्ठभूमि:** न्यायिक सक्रियता भादव वर्ष 1947 में इतिहासकार आर्थर स्लेसिंगर जूनियर द्वारा दिया गया था। जिसका आशय नागरिकों के अधिकारों के संरक्षण तथा संवर्धन के लिए तथा समाज में न्याय को बढ़ावा देने के लिए न्यायपालिका द्वारा आगे बढ़कर अपनी सकारात्मक भूमिका का निर्वहन करने से है, दूसरे शब्दों में कहें तो न्यायिक सक्रियता का अर्थ है “न्यायपालिका द्वारा सरकार के अन्य दोनों अंगों विधायिका एवं कार्यपालिका को अपने संवैधानिक दायित्वों के पालन के लिए बाध्य करना।” यह एक सक्रिय, सजग एवं कर्तव्यपरायण न्यायपालिका द्वारा कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में संवैधानिक दायित्व के निर्वहन का एक व्यावहारिक किन्तु अपरम्परागत ढंग है। न्यायपालिका को सक्रिय भूमिका निभाने के सम्बन्ध में भारतीय संविधान में ही कुछ

प्रावधान है। संविधान के अनुच्छेद, 32 और अनुच्छेद, 226 के साथ पढ़ा गया अनुच्छेद, 13 किसी भी कार्यकारी विधायी या प्रशासनिक कार्यवाही को शून्य घोषित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्रदान करता है, यदि वह संविधान के उल्लंघन में है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न्यायपालिका द्वारा कार्यपालिका शक्तियों का हस्तगन स्वेच्छाचारी ढंग से नहीं किया गया है बल्कि न्यायिक सक्रियता का आधार संवैधानिक हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की विस्तृत व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि संविधान के विभिन्न भाग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान के उद्देशिका में उल्लिखित सिद्धान्तों अथवा आदर्शों का विस्तार मूल अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धान्तों में पाया जाता है। मूल अधिकार और नीति निर्देशक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। न्यायपालिका ने विभिन्न अनुच्छेदों के मध्य सह-सम्बन्ध स्थापित करके न्यायपालिका को कार्यकारिणी के क्षेत्राधिकार में प्रवेश करने का अवसर प्रदान किया है। एक लेखक के अनुसार न्यायिक सक्रियता का आधार मुख्य रूप से पाँच अनुच्छेद हैं। जिन्हें उसने पवित्र पंचभुज कहा है। यह अनुच्छेद 14, 19, 21, 32 तथा 39ए है। न्यायपालिका ने इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया कि यदि कार्यकारिणी उपर्युक्त अनुच्छेदों द्वारा निश्चित किए गए अधिकारों और सिद्धान्तों को कार्यान्वित नहीं करेगी, तो संविधान का संरक्षक होने के नाते यह न्यायपालिका का अधिकार और संवैधानिक दायित्व है कि वह कार्यकारिणी को आवश्यक आदेश और निर्देश दे।

भारतीय संविधान में जापान के संविधान से ग्रहित 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' उपबन्ध का उल्लेख किया गया है, इसके अन्तर्गत न्यायपालिका ने विधि का अभिप्राय तो स्पष्ट किया परन्तु यह देखने का प्रयत्न नहीं किया कि विधि सही है या गलत, क्योंकि विधि के निर्माण का अधिकार विधायिका का है। न्यायपालिका ने गोपालन वाद (1950) में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का समर्थन किया तथा मैनका गांधी वाद में विधि की स्थापित प्रक्रिया को 'विधि की उचित प्रक्रिया' में परिवर्तित कर दिया जो कि अमेरिका के संविधान से लिया गया है, जिसके आधार पर न्यायपालिका ने कहा कि संसद के द्वारा तार्किक एवं उचित विधि का निर्माण होना चाहिए। विधायिका को मनमाने रूप में विधि के निर्माण का अधिकार नहीं है अतः हम देखें तो यह न्यायपालिका के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा परिवर्तन था।

अध्ययन का उद्देश्य: न्याय का सम्बन्ध राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक न्याय, दायित्व, नैतिक मूल्यों, आर्थिक विकास प्रशासनिक निर्णय और वैधानिक प्रक्रिया से है। अतः इसी के परिप्रेक्ष्य में संसदीय भासन व्यवस्था के तीन आधार स्तम्भ व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कर्तव्य तथा विशेष रूप से न्यायपालिका की भारतीय राजनीतिक स्वतंत्रता के पश्चात् बदलती भूमिका का अध्ययन करना।

**अध्ययन स्रोत और प्रविधि:** न्याय और न्यायिक सक्रियता के सम्बन्ध में प्रकाशित अनेक प्राथमिक व द्वितीयक स्रोतों का प्रयोग किया गया है। प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत कुछ प्रमुख वाद का उल्लेख तथा कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ, पुस्तक अन्य प्रकाशित लेखों और सूचनाओं का द्वितीयक स्रोत के रूप में उल्लेख किया गया है। इस भाोध पत्र को तैयार करने के लिए भाोध की ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

**न्यायिक सक्रियता का प्रारम्भ:** अगर हम इसके इतिहास को देखें तो पता चलता है कि न्यायिक सक्रियता की उत्पत्ति संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई। अमेरिकी संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश जॉन मार्शल को न्यायिक सक्रियता का जनक माना जाता है, जिन्होंने 1803 में **मारबरी बनाम मेडिसन** के मामले में ऐतिहासिक निर्णय देते हुए कहा था कि न्यायालयों को न्यायिक समीक्षा का अधिकार है। भारत में न्यायिक सक्रियता का सिद्धान्त 1970 के मध्य में आया। न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्ण अय्यर, न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती, न्यायमूर्ति ओ. विन्न्प्पा रेड्डी तथा न्यायमूर्ति डी. ए. देसाई ने देश में न्यायिक सक्रियता की नींव रखी।

न्यायिक सक्रियता उस संवैधानिक व्यवस्था को पुनर्जीवित करने का एक प्रयास है जिसे कार्यपालिका ने तोड़-मरोड़ दिया है न्यायपालिका ने इन शक्तियों को हस्तगत

करने के लिए स्वरोपित पारंपरिक प्रतिबन्धों को शिथिल कर दिया है, विशेषकर अधिकारिता के नियम को शिथिल करके यह सिद्धान्त विकसित किया है कि किसी व्यक्ति या समूह के साथ हो रहे अन्याय की जानकारी कोई अन्य व्यक्ति, सामाजिक संगठन अथवा पत्र या समाचार पत्र के द्वारा भी न्यायालय को दी जा सकती है और इस प्रकार प्राप्त सूचना को न्यायालय एक याचिका की तरह स्वीकार करते हुए उस पर कार्यवाही करेगा।

कुछ लोगों का यह मानना है कि न्यायिक सक्रियता के कारण शक्ति संतुलन का सिद्धान्त प्रभावित हो सकता है। न्यायिक सक्रियता को न्यायिक गतिशीलता के रूप में भी जाना जाता है, यह न्यायिक संयम का विरोधी है जिसका अर्थ है न्यायपालिका द्वारा नियंत्रित आत्म नियंत्रण। न्यायिक संयम, न्यायिक व्याख्या का एक सिद्धान्त भी है जो न्यायाधीशों को अपनी शक्ति के प्रयोग को सीमित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। यहां पर यह जानना आवश्यक है कि वह कौन से कारण हैं जिससे न्यायपालिका, कार्यपालिका के अथवा व्यवस्थापिका के कार्यों में समय-समय पर हस्तक्षेप करने लगी है। यह प्रायः देखा जाता है कि सरकार के और अंग जैसे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में समय समय पर बड़े भ्रष्टाचार के आरोप लगते रहते हैं यह भी कहा जा जाता है कि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका द्वारा अपने नियमों का बहुत कठोरता से पालन किया जाता है जिसके कारण वह अपेक्षित परिणाम नहीं दे पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त समाज में अनेक प्रकार की ऐसी घटनाएं हो रहीं हैं जिससे कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका उसको सम्भालने में विफल हो रहीं हैं अतः न्यायपालिका को इनके कार्यों में हस्तक्षेप करते हुए अपनी अग्रणी भूमिका निभाना पड़ रहा है।

**न्यायिक सक्रियता के कारण:** उपरोक्त तथ्यों का अवलोकन करने के उपरान्त कुछ ऐसे कारण दृष्टिगत होते हैं, जिनमें न्यायालय अपने निर्दिष्ट क्षेत्र का अतिक्रमण कर अन्य क्षेत्रों में, विशेषकर कार्यपालिका के क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने लगती हैं:

- जहां कि विधायिका और कार्यपालिका, नागरिकों के मूल अधिकारों जैसे गरिमापूर्ण जीवन और स्वास्थ्यकर परिवेश का संरक्षण करने में विफल हो अथवा कानून व प्रशासन को एक ईमानदार, कार्यकुशल एवं न्यायपूर्ण व्यवस्था देने में विफल हो।
- जब सरकार इतनी अस्थिर और कमजोर हो जाये कि कोई भी कठिनाई उपस्थित होने पर अथवा वर्ग विशेष को नाराज करने वाला कोई कठोर निर्णय न ले सकती हो तो ऐसी दशा में न्यायपालिका की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।
- जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाये जिसमें सरकार स्वयं को सक्षम समझते हुए न्यायालय के माध्यम का उपयोग और दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दे।
- जब न्यायालय जाने अनजाने स्वयं मानवीय अथवा संस्थागत नैसर्गिक दुर्बलताओं के अधीन अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार करना चाहती हो।
- जहां न्यायालय का, मजबूत सर्वासत्तावादी संसदीय दल वाली सरकार द्वारा गलत नीयत या उद्देश्य से दुरुपयोग हो रहा हो जैसा कि वर्ष 1975 में आपातकाल के दौरान हुआ था।

**न्यायिक सक्रियता का परिणाम:** न्यायिक सक्रियता की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डाली जाये तो यह पता चलता है कि न्यायिक सक्रियता कार्यकारिणी की निष्क्रियता का स्वाभाविक परिणाम है कार्यकारिणी की बढ़ती हुई उदासीनता, स्वेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता तथा निष्क्रियता ने न्यायिक सक्रियता को जन्म दिया है। जिसका आधार था **जनहित याचिका**, जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे समूह या वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता है जिसको उसके कानूनी या संवैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गरीब, अपंग अथवा सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े लोगों के मामले में आम जनता का कोई आदमी न्यायालय के समक्ष कोई वाद ला सकता है। न्यायालय अपने सारे तकनीकी तथा कार्यविधि सम्बन्धी नियमों की परवाह किये बिना उसे लिखित रूप में देने मात्र से ही कार्यवाही करेगा।

ऐसे मामलों की शुरुआत **संयुक्त राज्य अमेरिका** के सर्वोच्च न्यायालय ने की थी। भारत में इसकी शुरुआत **भागलपुर, बिहार** की जेल के विचाराधीन बन्दी रखे गये

कैदियों से हुई। बिहार की इन जेलों में सैकड़ों विचाराधीन कैदी किसी अदालती कार्यवाही के बिना ही वर्षों से जेल में सड़ रहे थे। इनकी ओर से न कोई जमानत देने वाला था और न कोई वकील था। अतएव जनहित में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि बिना कारण किसी को जेल में बन्दी बनाकर न रखा जाये। यदि उस पर मुकदमा चलाने में 18 माह से अधिक का समय लग रहा हो तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाये, और इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने गरीब और असहाय लोगों की ओर से जनहित में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मुकदमा लड़ने का अधिकार दे दिया। इससे पहले यह अधिकार केवल व्यक्तिगत या नीजी मामले में न्याय प्राप्त करने के लिए दिया गया था। उसके बाद जेलों में वर्षों से प्रतीक्षारत बंद कैदी, अवैध बंदी, महिलाएं, बच्चे और श्रमिकों का भाषाण, जेल और महिला संरक्षणगृहों की अमानवीय दशा, पुलिस अत्याचार, बेगार ऐसी असंख्य समस्याओं का निराकरण करने में कार्यकारिणी अप्रभावी सिद्ध हुई है। कार्यकारिणी के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्थिति को न्यायपालिका ने विधि के भासन की विफलता माना। न्यायपालिका जो पारंपरिक मूल्यों और मानकों का अनुपालन करते हुए अभी तक मूक दर्शक थी विधि के भासन को सुरक्षित रखने के लिए उठ खड़ी हुई है।

न्यायिक सक्रियता ने भारतीय सामाजिक परिवर्तन में व्यापक योगदान दिया है। न्यायिक सक्रियता ने कानूनी प्रक्रिया की जटिलता को कुछ शिथिल किया है जिसके माध्यम से आम आदमी की, न्याय तक पहुंच सुनिश्चित हो सकी और लोगों की संविधान और कानून की आस्था में वृद्धि हुई जिससे न्याय के वैकल्पिक स्रोतों, जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के हस्तक्षेप व अन्य गैर कानूनी उपायों की अपेक्षा लोगों का न्याय में विश्वास बढ़ा। पर्यावरणीय मामलों पर न्यायिक सक्रियता नागरिक समाज की सक्रियता का परिणाम था। इसने पर्यावरण जागरूकता को प्रोत्साहित किया जिससे पर्यावरण के क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं को नई उर्जा मिली और औद्योगिक प्रदूषण, वाहन प्रदूषण, वायु प्रदूषण, देर रात तक पार्टियों से ध्वनि प्रदूषण, खादय मिलावट, खनन आदि पर नई जागरूकता देखने को मिली। न्यायिक सक्रियता ने नागरिक अधिकारों को विस्तृत किया और अधिकार आधारित समाज के प्रोत्साहन से मदद की जैसे शिक्षा का अधिकार, गोपनीयता का अधिकार, बाघ अधिकार, वन अधिकार आदि न्यायिक सक्रियता का ही परिणाम है।

लोकतंत्र की मुख्य समस्या यह होती है कि जो मुद्दे चुनावी राजनीति से सरोकार नहीं रखते हैं वो छोड़ दिए जाते हैं, चाहे उसके कितने भी दुष्परिणाम क्यों न निकले। न्यायिक सक्रियता ने उन मुद्दों पर पहल की जैसे खाप पंचायत के विरुद्ध आदेश जारी करना, सार्वजनिक स्थलों पर अवैध धर्म स्थलों के निर्माण के विरुद्ध न्यायालय द्वारा समय समय पर आदेश जारी करना आदि न्यायिक सक्रियता के कारण ही उन मुद्दों और विषयों पर समाज में चर्चा होने लगी तथा उस पर कानून बने जिन्हें कभी चर्चा का विषय ही नहीं समझा गया। जैसे (L.G.B.T.) लेस्बियन, गे, बाई सेक्सुअल व ट्रांस सेक्सुअल इत्यादि पर कोर्ट का निर्णय भारतीय समाज के लिए नई पहल थी। इसी प्रकार तीन तलाक की प्रक्रिया, न्यायिक सक्रियता का परिणाम था। न्यायिक सक्रियता ने समाज के वंचित व हताश वर्ग को प्रेरित किया कि वे भी कोर्ट से न्याय प्राप्त कर सकते हैं और कई आन्दोलनों को हिसक होने से रोका जैसे नर्मदा आन्दोलन, भूमिहीनों का आन्दोलन और नक्सल आन्दोलन को भी कई जगहों पर न्यायिक सक्रियता के माध्यम से मुख्य धारा में लाने हेतु विश्वास का वातावरण बनाया है।

**न्यायिक सक्रियता के कुछ प्रमुख उदाहरण:** जिस न्यायिक सक्रियता की शुरुआत वर्ष 1967 में गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य से प्रारम्भ हुआ था जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने मूल अधिकारों पर रोक लगाते हुए यह निर्णय दिया था कि अनुच्छेद 368 में केवल संविधान संशोधन की प्रक्रिया निहित है तथा संविधान के भाग तीन में संशोधन की शक्ति नहीं है। वहीं पुनः सर्वोच्च न्यायालय ने इसका परिचय देते हुए केशवानंद भारती वाद 1973 में संविधान की मूल संरचना के सिद्धान्त को परिभाषित किया तथा यह स्पष्ट किया कि मौलिक अधिकारों सहित संविधान का कोई भी भाग संसद की संशोधन शक्ति से परे नहीं है परन्तु संविधान की मूल संरचना को संवैधानिक संशोधन द्वारा भी निरस्त नहीं किया जा सकता है। भारतीय कानून में यह वह आधार है जिसमें न्यायपालिका संसद द्वारा पारित किसी संशोधन को निरस्त कर सकती है जो संविधान की मूल संरचना के विपरीत है परन्तु अब समय के साथ धीरे-धीरे उसका विस्तार होता जा रहा है क्योंकि समय के साथ व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के क्रियाकलापों में सुधार नहीं हुआ बल्कि उसका स्तर और खराब हुआ है।

मनमोहन सिंह की संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन (य.पी.ए.) की सरकार के दौरान 2-जी घोटाले में सर्वोच्च न्यायालय ने आठ टेलीकाम कम्पनियों को आवंटित 122 टेलीकाम लाइसेन्स और इसपेक्ट्रम को इस आधार पर निरस्त कर दिया था कि आवंटन की प्रक्रिया में समुचित नियमों का पालन नहीं किया गया है जिससे कुछ व्यक्ति विशेष को लाभ पहुंचाने की कोशिश की गयी है। इसी प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय ने 2018 में मानवीय स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए दिल्ली एनसीआर क्षेत्र में पटाखों पर प्रतिबन्ध लगाया था क्योंकि पटाखों के धुएँ से पर्यावरण प्रदूषित होता है जिससे साँस सम्बन्धी बीमारी वाले लोगों को बहुत परेशानी हो रही थी।

अनुच्छेद, 21 का निरन्तर विस्तार होता जा रहा है क्योंकि यह अनुच्छेद जीवन के अधिकार के साथ जुड़ा हुआ है इसलिए जो भी घटनाएं या विषयवस्तु गुणवत्तापूर्ण जीवन को प्रभावित करती हैं उन सभी विषयों पर कानून बनाने और उसकी व्याख्या का अधिकार प्राप्त हो जाता है। जैसे विदेश जाने का अधिकार, गोपनीयता का अधिकार, मातृत्व का अधिकार शुद्ध पेयजल और स्वच्छ वायु का अधिकार इत्यादि अनुच्छेद 21 में निहित है।

भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसकी लगभग 70 प्रतिशत आबादी कृषि पर आश्रित है जिसके कारण यह देश गरीबी और अन्याय से ग्रसित है अतः सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की पुनःसंरचना का कार्य वास्तव में अतिआवश्यक है ताकि गरीब समुदाय के लिए सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार पूर्ण हो सके। इस क्रम में हमारी न्यायपालिका ने प्रक्रियात्मक औपचारिकता तथा तकनीकियों से पूर्ण परम्परागत न्यायप्रणाली से हटकर सर्वप्रथम 1976 में इन लोगों के लिए सामाजिक न्याय के प्रणेता न्यायविदों ने सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में न्याय प्रदान करने के लिए जनहित वादों की शुरुआत की।

पर्यावरण से होने वाली क्षति को रोकने के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक सक्रियता का परिचय देते हुए औद्योगिक प्रतिष्ठानों और प्राइवेट कारखानों को नियंत्रित करने का प्रयास किया और कारखानों को घनी आबादी से दूर स्थापित करने का आदेश दिया ताकि पर्यावरण से होने वाले नुकसान को बचाया जा सके। ताजमहल और डीसीएम प्रकरण इसके कुछ ज्वलंत उदाहरण हैं।

पर्यावरण प्रकृति का सर्वोत्तम उपहार है क्योंकि यह भौतिक, आर्थिक सांस्कृतिक एवं सौन्दर्य का सम्मूच्चय है। अतः स्वस्थ एवं स्वच्छ पर्यावरण न केवल जीवन बल्कि उसके विकास में अत्यन्त आवश्यक है। अनुच्छेद 21 का व्यापक निर्वचन, जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का विस्तार करते हुए स्वस्थ स्वच्छ वातावरण में जीने के अधिकार को सम्मिलित करते हुए उच्चतर न्यायपालिका ने न्यायिक उपचारों के तहत अनेक क्षेत्रों में पर्यावरण प्रदूषण को रोकने की कार्यवाही की जो आज भी चर्चा का विषय है।

हाल के समय में ऐसे कई महत्वपूर्ण मामले चर्चा में आए जहां राज्य सरकार एवं कानून व्यवस्था के उपर प्रश्न चिन्ह खड़े हुए हैं जैसे मणिपुर हिंसा का मामला, जिसमें एक महिला को निर्वस्त्र करके घुमाया गया था इसमें सरकार की उदासीनता के कारण सर्वोच्च न्यायालय को हस्तक्षेप करना पड़ा। इसी प्रकार से मीडिया की स्वतंत्रता का मामला है कि किस प्रकार मीडिया निष्पक्ष और पारदर्शी तरीके से काम नहीं कर रही है।

**निष्कर्ष:** जनहित याचिकाओं के माध्यम से न्यायिक सक्रियता के जिस दौर की शुरुआत हुई है उससे न्यायपालिका का पलड़ा भारी दिखायी देता है। इसको लेकर कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में जबरदस्त हलचल मची है। किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि तथाकथित न्यायिक सक्रियता आज की विभिन्न समस्याओं का कोई स्थायी समाधान नहीं दे सकती। वह तो केवल घोर आपातकालीन दवा का काम ही कर सकती है। अन्ततः कार्यपालिका एवं विधायिका को अपना-अपना काम इमानदारी के साथ करना सीखना होगा। न्यायपालिका न तो विधायिका का स्थान ले सकती है और न ही कार्यपालिका का। साथ ही आज की विशेष परिस्थितियों में न्यायिक अधिनायकवाद का भय दिखाना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि न्यायपालिका भी तभी तक सक्रिय और प्रभावी हो सकती है जब तक दूसरी दो संस्थाएं उसका आदर करें, और उसके आदेशों का पालन करें। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय का स्वरूप सक्रिय या विधेयात्मक बन गया है और

आम जनता के सामाजिक-आर्थिक उत्थान में बराबर का भागीदार बन रहा है। एक ओर उसने संविधान की निशेधात्मक एवं उच्च वर्गोन्मुख धाराओं को रचनात्मक तथा जनोन्मुख बनाया है, तो दूसरी ओर जनहितकारी विवादों में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेने का अधिकार देकर औचित्यपूर्ण कार्यविधि के सिद्धान्त की स्थापना करके मानव प्रतिष्ठा के विस्तृत अर्थ ग्रहण करके तथा वाद संबंधी, विशेषतः निर्धन एवं दुर्बल पक्षकारों को समान धरातल पर लाकर आम जनता की काया पलट करने में भारी योगदान किया है।

## REFERENCES

1. Andhyarujina, T.R., "Judicial Activism and Constitutional Democracy in India", Rahman & Company, Bombay, 1992
2. Banarje Prof. D., Subrahmanyam, A & Vijayakumar V. "Judicial Activism: Dimensions and Directions", Vikas Publication House, New Delhi, 2002
3. Baxi, Upendra; "The Indian Supreme Court and Politics", Eastern Book Co., Lucknow, 1980.
4. Bhatiya, K. L. "Judicial Activism and Social Change", Conference Publication, Deep & Deep Publication, New Delhi, 1990
5. Dua, B.D., Singh, M.P. Saxena, Rekha, "Indian Judiciary and Politics: The changing Landscape", Manohar Publication, New Delhi, 2007
6. Godbole, Madhv, "The Judiciary and Governance in India", Rupa & Co. New Delhi, 2009
7. Kumari, Krishna A., "Judicial activism: Need for Recommence", I.C.A.F.I. University Press, 2008
8. Khosla, Sunil, "Judicial Activism in India: Problems and Prospects", Arun Publication House, Chandigarh, 2008.
9. Lal, Bhure, "Judicial Activism & Accountability", Siddharth Publications, New Delhi, 2004
10. कश्यप डॉ. सुभाष, "हमारा संविधान और संवैधानिक विधि" (2012) नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली।
11. सईद, एस. एम., "भारतीय राजनीतिक व्यवस्था" (2019) भारत बुक सेंटर, लखनऊ।
12. शर्मा, ब्रजकिशोर, "भारत का संविधान, एक परिचय (2009) पी. एच. आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
13. बघेरा, डॉ. बी. एल. पब्लिक इंटरैस्ट लिटिगेशन: अ हैण्डबुक, द्वितीय संस्करण, (2009) यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली।
14. कश्यप डॉ. सुभाष "ज्यूडिशरी लेजिसलेचर इंटरफोन इन पालिटिक्स इण्डिया" (1997) नई दिल्ली।
15. डॉ. वन्दना, "डाइमेंशन ऑफ ज्यूडिशियल ऐक्टिविज्म इन इण्डिया", राज पब्लिकेशन नई दिल्ली।
16. गैना, सी. बी., "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ", विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2001
17. कश्यप डॉ. सुभाष एवं गुप्ता, विश्वप्रकाश; "राजनीति कोश", राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1971
18. लॉस्की हेराल्ड; "राजनीतिक प्रवेशिका", मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री रास्ता, साहित्य मण्डल, दिल्ली, 2000
19. पायली, एम. वी., "भारत का संविधान: एक परिचय", विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2004
20. अग्रवाल, आर. सी. "भारतीय संविधान का विकास एवं आन्दोलन", एम. चन्द एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 2004
21. बसु, डी. डी., "भारत का संविधान—एक परिचय", वाधवा एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2003
22. पाण्डेय डॉ. जयनारायण, "भारत का वैधानिक एवं संवैधानिक इतिहास", सेन्ट्रल एजेन्सी, इलाहाबाद, 2000